मानव को इस ब्रहमाण्ड के विकास एवं सृजन का सबसे विलक्षण प्राणी माना गया है. इसी मानव ने अपने उन्नत स्नायु मण्डल तथा मानसिक क्षमता के बल पर अपने प्रश्नों, जिज्ञासाओं व कठिनाइयों आदि का समाधान कर अपने ज्ञान, बुद्धि व विवेक के बल पर अपनी सभ्यता एवं संस्कृति की रचना करने में सफलता अर्जित की है। जिस प्रकार अपने जीवन को सुखमय तथा निरापद बनाने के लिये मनुष्यों में अपने वातावरण को जानने व समझने की एक स्वाभाविक प्रवृति होती है, ठीक उसी प्रकार पशु पक्षियों में भी अपने चारों तरफ के परिवेश व घटनाओं को समझने बूझने की क्षमता होती है, परन्तु यह सीमित होती है। मानव ने जहां अपने बुद्धि व चातुर्य बल से अपने वातावरण तथा उसमें होने वाली विभिन्न घटनाओं को व्यापक रूप से समझने का प्रयास किया है, और निरन्तर इस दिशा में कियाशील रहकर अपने सर्वोत्तम विकास की दिशा में कदम बढ़ाया है. उसी मानव के इन्हीं प्रयासों की परिणति आज ज्ञान के भण्डार तथा वृद्धि के रुप में परिलक्षित हो रही है।

एक राष्ट्र अथवा समाज के लिये सबसे महत्वपूर्ण साधन मानव है, और कोई भी राष्ट्र केवल तब ही उन्नति के पथ पर अग्रसर रह सकता है जबकि उस समाज के प्रत्येक मानव को स्वतन्त्रता पूर्वक उतनी सुविधा प्राप्त हो जितनी कि उसमें विकास करने की क्षमता है। चूँकि प्रत्येक व्यक्ति के अन्दर शक्तियाँ निहित होती हैं. और जब इन शक्तियों को फलने फूलने का अवसर प्राप्त होता है तो व्यक्ति का विकास उसकी क्षमता के अनुसार होने लगता है, किन्तु यदि ऐसा नही होता तो उसका विकास बाधित होने लगता है। वास्तव में मानव के विकास के इतिहास में शिक्षा का एक महत्वपूर्ण स्थान है। शिक्षा के माध्यम से ही मानव सीखता है, और मानव के सीखने में सबसे पहला प्रयास माँ का होता है. माँ की गोद से ही बालक का शिक्षण प्रारम्भ होता है। माँ सर्वप्रथम इस और प्रयास करती है, इस प्रकार माँ प्रथम शिक्षिका होती है। यह विदित है कि आदि काल से ही मानव, माँ से जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु शिक्षण लेता रहा था, इसके पश्चात जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु पिता भी अपना योगदान देने लगा और परिवार की रूपरेखा बनने पर यह परिवार के सदस्यों का कार्य हो गया। जब समाज के ढांचे का निर्माण हुआ तो शिक्षण समाज का एक महत्वपूर्ण कार्य बन गया। यह सर्वविदित है कि मानव जीवन में शिक्षा विशेष महत्व रखती है. यह मानव के विकास का सशक्त माध्यम मानी जाती है, सामाजिक एवं राष्ट्रीय विकास की आधारशिला मानी जाती है और जब शिशु जन्म लेता है तो उसके पास केवल प्रकृति प्रदत्त ज्ञान होता है, वह ज्ञान जो प्रकृति के हर प्राणी के पास होता है, लेकिन जो बात उसे बाकी जीवों से अलग करती है, वह है सीखने की अपार क्षमता। इस क्षमता के कारण ही वह पैदा होने के बाद से प्रतिदिन, प्रतिपल कुछ नया सीखता है। इस सीखने का पहला चरण शारीरिक ज्ञान है, इसके अंतर्गत वह अपने शरीर और उसकी आवश्यकताओं जैसे शौच, भूख, प्यास, नींद, दर्द आदि से अवगत होता है। दूसरे चरण में वह भावनात्मक आवश्यकताओं को समझता है, जैसे स्नेह, स्पर्श व रिश्ते आदि। तीसरे चरण में शिशु को सामाजिक की समझ होती है, और चतुर्थ चरण स्वयं से साक्षात्कार का है। अतः शैशव काल से लेकर मृत्यु पर्यन्त इन चारों चरणों में व्यक्ति जो भी सीखता है, वह है शिक्षा।

शिक्षा आवश्यकताओं ही वह माध्यम होती है, जिसके द्वारा मानव को सभ्य, सुसंस्कृत एवं प्रगतिशील बनाया जाता है। व्यापक दृष्टि से शिक्षा का तात्पर्य समझा जाये तो शिक्षा, शिक्षण संस्थाओं की सीमाओं में उपलब्ध ज्ञान एवं अनुभवों के अतिरिक्त उन सभी कुशलताओं, रूचियों, दृष्टिकोण एवं अनुभव की प्राप्ति है, जो व्यक्ति अपने जीवन काल में विद्यालय एवं विद्यालय के बाहर के वातावरण द्वारा अर्जित करता है। राष्ट्रीय शिक्षा आयोग, (1964-66) के अनुसार "शिक्षा राष्ट्र के आर्थिक एवं सामाजिक विकास का शक्तिशाली साधन है, शिक्षा राष्ट्रीय सम्पन्नता एवं राष्ट्र कल्याण की कुंजी है।" प्राचीन काल में शिक्षा को मुक्ति एवं आत्मबोध के साधन के रूप में देखा जाता था, उस समय शिक्षा को अत्यधिक महत्व दिया जाता था, तब ऐसा माना जाता था कि जिस प्रकार अन्धकार को दूर करने का साधन प्रकाश है. उसी प्रकार व्यक्ति के जीवन से संशयों और भ्रमों को दूर करने का साधन शिक्षा है। शिक्षा को हमारे मनीषियों के अनुसार भी जीवन का यथार्थ दर्शन कराने का एक मात्र उपाय बताया गया था, क्योंकि इसी के माध्यम से मानव अपने जीवन में आने वाली बाधाओं को पार का मोक्ष प्राप्त कर सकता था, जो कि मानव जीवन का चरम लक्ष्य माना जाता है।

अगर प्राचीन भारत की शिक्षा व्यवस्था को देखा जाये तो इसका प्रारम्भिक रूप हमें ऋग्वेद में मिलता है, तब विद्यार्थी आचार्य के कुल में निवास करता था। गुरू की सेवा व ब्रहमचर्य का पालन करता था, तब पाँच वर्ष के बालक की प्राथमिक शिक्षा उपनयन संस्कार के बाद आरम्भ कर दी जाती थी। ब्रहमचर्य का पालन करते हुये विद्यार्थी आचार्य के कुल में 12 वर्ष तक वेदों का अध्ययन करता था। प्राचीन शिक्षा व्यवस्था में उस समय कोई परीक्षा नहीं होती थी और न ही कोई उपाधि दी जाती थी। शिष्य अध्ययन और अनुसंधान में निरन्तर लगे रहते थे। वाद विवाद और शास्त्रार्थ में सम्मिलित होने से उनकी योग्यता का प्रमाण दिया जाता था। बाद में समय के साथ पाठ्यक्रम के विस्तार और परिवर्तन के कारण साहित्य दर्शन, ज्योतिष, व्याकरण और चिकित्सा शास्त्र इत्यादि विषयों का अध्यापन होने लगा। मिथिला, प्रयाग, वल्लभी, नालंदा, तक्षशिला आदि शिक्षा के केन्द्र बन गये। शिक्षा के साधन के रूप में कथा, अभिनय आदि को माध्यम बनाया गया था। इसके उपरान्त जब भारत में मुस्लिम राज्य की स्थापना हुई और इस्लामी शिक्षा का प्रसार होने लगा तब हिंदू, अरबी व फारसी पढ़ने लगे। अरबी भाषा को मुसलमानों के लिये अनिवार्य पाठ्यविषय बना दिया गया था। इसके बाद शिक्षा की नींव यूरोपीय ईसाई धर्मप्रचारकों तथा व्यापारियों के हाथों में आ गई थी। 1813 के आज्ञापन के अनुसार शिक्षा में धन व्यय करने का निश्चय किया गया, और किस प्रकार की शिक्षा दी जाये, इस पर प्राच्य और पाश्चात्य शिक्षा के समर्थकों में मतभेद रहने लगा। अंत में लॉर्ड मैकाले के तर्क वितर्क और राजाराम मोहन राय से प्रभावित होकर 1835 ई० में लॉर्ड बेंटिक ने निश्चय किया कि अंग्रेजी भाषा व साहित्य, यूरोपीय साहित्य व विज्ञान इत्यादि की पढाई हो। पाश्चात्य रीति से जब भारतीयों को शिक्षित किया जाने लगा और उनकी आर्थिक स्थिति सुधरने लगी तो जनता का झुकाव उधर होने लगा और अंग्रेजी विद्यालयों में अधिक विद्यार्थी प्रविष्ट होने लगे। मेडीकल, इंजीनयरिंग और लॉ कालेजों की स्थापना होने लगी तथा स्त्री शिक्षा पर जोर दिया जाने लगा। इसी दौरान सन् 1882 में जब सर विलियम विल्सन हंटर की अध्यक्षता में भारतीय शिक्षा आयोग की नियुक्ति हुई तो माध्यमिक स्कूलों के सुधार और

व्यवसायिक शिक्षा के प्रसार के लिये आयोग ने सिफारिशें की। आयोग की सिफारिशों से भारतीय शिक्षा में उन्नति हुई और विद्यालयों की संख्या बढ़ने लगी। शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी रहा और मात्रभाषा की उपेक्षा होती गयी। शिक्षा संस्थानों और शिक्षितों की संख्या बढ़ने लगी परन्तु शिक्षा का स्तर गिरता चला गया। माध्यमिक स्कूलों पर सरकारी शिक्षा विभाग और विश्वविद्यालय दोनों का नियंत्रण आवश्यक मान लिया गया, आर्थिक सहायता बढ़ा दी गयी और आयोग द्वारा पाठ्यक्रम में सुधार किया गया। लॉर्ड कर्जन ने सन् 1902 में भारतीय विश्वविद्यालय आयोग नियुक्त किया तथा परीक्षा, शिक्षण, पाठ्यक्रम, शिक्षा इत्यादि विषयों पर विचार करते हुये इस आयोग ने अनेकों महत्वपूर्ण सुझाव दिये। सन् 1904 में भारतीय विश्वविद्यालय कानून बना और इसके उपरान्त सन् 1913 में भारत सरकार ने शिक्षा नीति में अनेक परिवर्तनों की कल्पना की और कलकत्ता विश्वविद्यालय आयोग नियुक्त हुआ जिससे माध्यमिक क्षेत्र में निरन्तर उन्नति होती गई। इससे शिक्षा में व्यवहारिकता आने लगी और माध्यमिक शिक्षा में सुधार होने लगा परन्तु उचित संगठन के अभाव में उसकी समस्यायें पूर्णरूपेण हल न हो पाई, अतः सन् 1937 में शिक्षा की एक योजना तैयार की गई जिसको 1938 में बुनियादी शिक्षा के नाम से जाना गया। इसमें 07 से 11 वर्ष के बालकों की शिक्षा की अनिवार्यता तथा शिक्षा का माध्यम, मात्रभाषा रखने की बात की गई। महात्मा गांधी जी के द्वारा दी गई इस योजना का उद्देश्य उद्योग के माध्यम से शिक्षा प्रदान करना रहा, ताकि बालक शारीरिक श्रम के महत्व को समझे। गांधी जी द्वारा प्रतिपादित इस शिल्प आधारित शिक्षा का उद्देश्य बालक का सर्वांगीण विकास कर उसे आत्मनिर्भर बनाकर एक आदर्श नागरिक बनाना था। यही गांधी जी द्वारा प्रतिपादित बुनियादी शिक्षा का महत्वपूर्ण लक्ष्य था।

आजादी के बाद राधाकृष्णन आयोग (1948-49), माध्यमिक शिक्षा आयोग, मुदालियर आयोग (1952-53), विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (1953), कोतारी शिक्षा आयोग (1964), राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1968) एवं नवीन शिक्षा नीति (1986) आदि के द्वारा भारतीय शिक्षा व्यवस्था को समय समय पर सही दिशा देने की गंभीर कोशिशें की गई तथा शिक्षा के प्रत्येक स्तर (प्राथमिक, माध्यमिक एवं उच्च) पर सुधार लाने के प्रयास क्रिये गये। चूंकि शिक्षा के प्रत्येक स्तर का मानव जीवन के उत्थान में महत्वपूर्ण स्थान होता है परन्तु अगर इन तीनों स्तरों को देखा जाये तो वर्तमान शिक्षा के ढांचे में माध्यमिक शिक्षा का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण माना गया है, अतः इसे सुदृढ़ उपयोगी एवं प्रभावशाली बनाकर ही शिक्षा के राष्ट्रीय लक्ष्यों को सहज रूप में प्राप्त किया जा सकता है। भारत में इस माध्यमिक शिक्षा का सूत्रपात करने का श्रेय यूरोपीय मिशनरियों को प्राप्त है, इन मिशनरियों ने 18 वीं शताब्दी के अंन्त में देश के कुछ भागों में माध्यमिक स्कूलों की स्थापना की और इसके पश्चात भारतीयों ने 19 वीं शताब्दी के आरम्भ में माध्यमिक स्कूलों की स्थापना का कार्य आरम्भ किया।

1.01 माध्यमिक स्तर शिक्षा व्यवस्था

शिक्षा व्यक्ति की अंतनिर्हित क्षमता तथा उसके व्यक्तित्व को विकसित करने वाली प्रकिया है। यह प्रकिया उसे समाज में एक जिम्मेदार नागरिक बनाने के लिये आवश्यक ज्ञान तथा कौशल उपलब्ध कराती है, और किसी व्यक्ति विशेष को समाज से जोड़ने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। यह समाज की संस्कृति और इसकी निरन्तरता को भी बनाये रखती है। बालक इसी शिक्षा के द्वारा समाज के नियमों, व्यवस्थाओं व मूल्यों आदि को सीखता है, लेकिन समाज से वह तभी जुड पाता है जब उस समाज विशेष के इतिहास से रूबरू होता है और समाज की इसी व्यवस्था को समझने के लिये हमें भारतीय शिक्षा के इतिहास पर दृष्टिपात करना होगा, जिसके लिये हमें भारतीय शिक्षा व्यवस्था को निम्न कालों में बांटकर समझना होगा

1.01.01 वैदिक कालीन शिक्षा व्यवस्था

भारत की प्राचीन शिक्षा आध्यात्मिकता पर आधारित थी. इसे प्रकाश का स्रोत माना जाता था, क्योंकि जिस प्रकार से अन्धकार को दूर करने का साधन प्रकाश माना जाता है उसी प्रकार से शिक्षा हमारे जीवन के अंधकार को दूर कर हमारे संशयो को मिटाने, भ्रमों को दूर करने व सन्मार्ग हेतु पथ प्रदर्शक के रूप में मानव जीवन को प्रकाशमान करने के साधन के रूप में जानी जाती थी। हमारे देश की वैदिक कालीन शिक्षा प्रणाली आधुनिक शिक्षा प्रणाली की नींव का पत्थर मानी जाती है। आज भी हमारी शिक्षा व्यवस्था में वैदिक शिक्षा प्रणाली प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से दृष्टिगोचर होती है, और हमारे देश में आज भी वैदिक शिक्षा प्रणाली पर आधारित अनेकों धार्मिक शिक्षा केन्द्र, गुरूकुल एवं संस्कृत विद्यालय चल रहे हैं। हालांकि इनका स्वरूप वैदिक कालीन ऋषि-मुनियों के आश्रमों से काफी भिन्न है, परन्तु मूल आधार अभी भी वही है। वैदिक कालीन शिक्षा का मुख्य उद्देश्य ईश्वर भक्ति, धर्म की भावना को जाग्रत करना, चरित्न निर्माण तथा व्यक्तित्व का विकास रहा है। उस समय ज्ञान व अनुभूति पर विशेष बल दिया जाता था और उनकी योग्यता का मापदण्ड, शास्त्रार्थ होता था। वैदिक काल में आत्मा के उत्थान के लिये जप, तप और योग पर भी विशेष बल दिया जाता था। वैदिक काल में बालक के विद्याध्यन का औपचारिक प्रारम्भ उपनयन संस्कार के उपरान्त माना जाता था। उपनयन संस्कार के उपरान्त बालक गुरुकुल की परम्पराओं का पालन करता था। यह संस्कार विभिन्न वर्णों के बालकों के लिये भिन्न भिन्न आयु पर निर्धारित था। ब्राह्मण बालकों का उपनयन आठ वर्ष की आयु में कराया जाता था जबकि क्षत्रिय बालकों का ग्यारह वर्ष की आयु में, और वैश्य वर्ण के बालकों का बारह वर्ष की आयु में होता था।

वैदिक काल में उपनयन संस्कार के उपरान्त विद्यार्थियों को गुरूकुल में ही रहना पडता था, और गुरूकुल के नियमों का पालन करना होता था। गुरूकुल प्रायः शहरों के कोलाहल से दूर एकान्त स्थानों पर स्थित होते थे। विद्यार्थी सामान्यतः गुरुकुलों में बारह वर्ष तक अध्ययन करते थे और प्रत्येक वेद के अध्ययन में उनको बारह वर्ष का समय लगता था। एक वेद का अध्ययन करने वाला छात्र स्नातक, दो वेद का अध्ययन करने वाला छात्र वसु, तीन वेद का अध्ययन करने वाला रूद्र तथा चारों वेदों का अध्ययन करने वाला छात्र आदित्य कहलाता था। आश्रम में प्रवेश लेने के उपरान्त विद्यार्थियों को आश्रम के द्वारा निर्धारित किये गये नियमों का पालन करना होता था, उनको प्रातः जल्दी उठकर अपने नित्य कर्मों से निवृत्त होना पड़ता था इसके उपरान्त ही वे अध्ययन कर सकते थे।

वैदिक काल में हवन, मन्त्रों तथा वाह्य आडम्बरों पर अधिक बल था. शिक्षा धर्म प्रधान थी मौखिक कार्य के साथ साथ लेखन का कार्य भी किया जाता था। व्याकरण, गणित, दर्शन, ज्योतिष, अर्थशास्त्र, कृषि, राजनीति आदि पाठ्यक्रम में शामिल थे, साथ ही शुद्ध उच्चारण, स्वर, व्यंजन, रस, छन्द व अलंकार आदि के शुद्ध अभ्यास पर भी बल दिया जाता था।

वैदिक काल में शिक्षण सामान्यतः मौखिक रूप में था और प्रायः यह प्रक्रिया प्रश्नोत्तर, शंका समाधान, व्याख्यान और वाद विवाद के द्वारा होती था। इसके अलावा उच्चारण विधि, व्याख्यान एवं दृष्टान्त विधि, श्रवण मनन व चिन्तन विधि भी प्रयुक्त की जाती थी, तथा नीति की शिक्षा देने हेतु कहानी विधि को प्रयुक्त किया जाता था।

वैदिक काल में आधुनिक काल की तरह परीक्षायें नही होती थीं। गुरुओं के द्वारा शिष्यों से मौखिक रूप से प्रश्न पूछे जाते थे और निर्णय किया जाता था कि शिष्यों ने ज्ञान प्राप्ति की है या नही. तत्पश्चात उन्हें विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत किया जाता था और विद्वान प्रश्न पूछकर संतुष्ट होकर ही उन्हें सफल घोषित करते थे। वैदिक काल में कोई प्रमाण पत्र नहीं दिया जाता था, उनकी योग्यता ही उनका प्रमाणपत्र होती थी।

वैदिक काल में स्त्रियों को किसी भी प्रकार की शिक्षा को प्राप्त करने का समान अधिकार था। स्त्रियों के लिये अलग से कोई गुरूकुल नहीं थे। सामान्य परिवारों की लडकियों उच्च शिक्षा प्राप्त नहीं कर पाती थीं केवल अति विशिष्ट घरानों की लड़कियों ही शिक्षा ग्रहण कर पाती थीं।

वैदिक काल में अनुशासन से तात्पर्य शारीरिक, मानसिक व आत्मिक सयम से लिया जाता था, उस समय शिष्यों द्वारा गुरूओं के आदेशों और गुरूकुलों के नियमों को ही अनुशासन माना जाता था, जो शिष्य इसका पालन नहीं करते थे उन्हें दण्ड दिया जाता था, परन्तु शारीरिक दण्ड केवल विशेष परिस्थितियों में ही दिया जाता था।

वैदिक काल में गुरुकुल बडे बडे नगरों और तीर्थ स्थलों पर स्थापित थे, ये तीर्थ स्थान धर्म प्रचार के केन्द्र होने के साथ साथ शिक्षा के केन्द्रों के रूप में भी विकसित हो चुके थे। इनमें शिक्षा के प्रमुख संस्थानों के रूप में तक्षशिला, मिथिला, काशी, पाटलिपुत्र, कन्नौज व उज्जैनी आदि थे।

शिक्षा की समाप्ति समापवर्तन सस्कार से होती थी, समापवर्तन का उपदेश गुरु के हृदय में वर्षों से संचित प्रेम से युक्त होता था तथा इसमें नैतिकता पर बल दिया जाता था और गुरू के द्वारा सत्य बोलने, माता पिता की सेवा, दान व उत्तम कार्य आदि को करने पर बल दिया जाता था, तत्पश्चात गुरु, शिष्य को निम्न उपदेश देता था-

सत्यं वद धर्म चर स्वाधयायान्मा प्रमदितव्यम्

तत्पश्चात छात्र विद्या का व्रत लेता था. इसके बाद गुरू आशीर्वाद देकर शिष्य को गुरूकुल से घर के लिये विदा करते थे।

1.01.02 मुस्लिम कालीन शिक्षा व्यवस्था
1.01.03

भारत में मुस्लिम शासन की स्थापना के पूर्व यहीं बौद्ध तथा ब्राहमणीय शिक्षा प्रदान की जाती थी। मुस्लिम कालीन शिक्षा का पहला उद्देश्य इस्लाम धर्म के अनुयायियों में ज्ञान का प्रसार करना था, इस्लाम का प्रसार करना था। वे अपने धर्म का प्रसार करना अपना पवित्र कर्तव्य मानते थे। मुस्लिम शिक्षा संस्थाओं के द्वार हिन्दू व मुसलमान दोनों के लिये खुले थे।

'बिस्मिल्लाह खानी' की रस्म के बाद बालक अपनी शिक्षा प्रारम्भ करता था। यह रस्म उस समय होती थी, जब बालक 4 वर्ष, 4 माह और 4 दिन का होता था। मौलवी कुरान शरीफ की आयतें पढ़ते थे और बालक को उन आयतों को दोहराना होता था तथा बालक का औपचारिक विद्याध्यन आरम्भ हो जाता था।

मुस्लिम काल में शिक्षा व्यवस्था के दो प्रमुख अभिकरण मकतब तथा मदरसा थे। मकतब मस्जिदों से जुड़े होते थे तथा मस्जिद के मौलवी साहब ही मकतबों में अध्यापक का कार्यभार संभालते थे। मकतब की शिक्षा पूर्ण करके छात्र मदरसों में प्रवेश लेते थे. इनका प्रबन्ध प्रायः व्यक्तिगत प्रबन्ध समितियों द्वारा किया जाता था। आगरा, दिल्ली, मालवा, लाहौर, मुल्तान, रामपुर, लखनऊ, देवबन्द, फिरोजाबाद व अजमेर आदि शिक्षा के प्रमुख केन्द्र थे।

पाठ्यकम लौकिक शिक्षा व धार्मिक शिक्षा में विभाजित था। लौकिक शिक्षा के अन्तगत अरबी, व्याकरण, गद्य, साहित्य, तर्कशास्त्र, गणित व युनानी चिकित्सा आदि विषय आते थे और धार्मिक शिक्षा के अन्तगत कुरान हदीस तथा धर्मशास्त्र आदि का गहन अध्ययन कराया जाता था। शिक्षा का माध्यम फारसी था।

मुस्लिम कालीन शिक्षा मुख्यतः मौखिक रूप से दी जाती थी तथा विद्यार्थियों को शिक्षा देने के लिये अध्यापक, भाषण विधि या व्याख्यान विधि का प्रयोग करते थे। स्वाध्याय विधि से ज्ञान प्राप्त करने के लिये भी प्रोत्साहित किया जाता था। उस समय कक्षा नायकीय पद्धति का प्रचलन भी था। इस काल में धर्म, दर्शन व तर्कशास्त्र आदि के शिक्षण में तर्क विधि का मुख्य स्थान था। मुस्लिम काल मे विद्यार्थियों की परीक्षा की कोई निश्चित प्रणाली नहीं थी। शिक्षक प्रत्येक छात्र के ज्ञान का स्वयं मूल्याकन करके, उसे उच्च कक्षा में शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार प्रदान कर देता था, तब शिक्षा की समाप्ति पर विद्यार्थियों को प्रमाणपत्र या उपाधियों नहीं दी जाती थीं, किन्तु जो छात्र अपने अध्ययन के विषय में असाधारण योग्यता का परिचय देते थे. उनको उपाधियों से विमुषित किया जाता था। साहित्य के छात्रों को काबिल' की उपाधि, धर्मशास्त्र के छात्रों को 'आलिम' की उपाधि तथा तर्कशास्त्र व दर्शनशास्त्र के छात्रों को फाजिल' की उपाधि प्राप्त होती थी।

मुस्लिम काल में विद्यार्थियों के लिये नैतिकता पूर्ण व्यवहार, शिष्टाचार तथा आत्मानुशासन सभी के लिये अनिवार्य था, अतः मुस्लिम काल में विद्यार्थी ज्यादा अनुशासित रहते थे। विद्यार्थियों के द्वारा अनैतिक आचरण अथवा आज्ञा पालन न करने पर कठोर शारीरिक दण्ड दिये जाने का प्रावधान था, किन्तु ऐसे छात्र जो कुशल, योग्य व चरित्रवान होते थे, ऐसे छात्रों को पुरूस्कार देकर सम्मानित भी किया जाता था।

मुस्लिम काल के दौरान पर्दा प्रथा का प्रचलन होने के कारण नारी शिक्षा का विकास काफी कम हो पाया था. जिन लड़कियों की आयु कम होती थी, उनकी शिक्षा व्यवस्था मकतबों में थी परन्तु उच्च शिक्षा के लिये शिक्षा की व्यवस्था घर पर ही करनी होती थी।

1.01.03 ब्रिटिश कालीन शिक्षा व्यवस्था

यूरोप के व्यापारियों के भारत आगमन के कुछ समय उपरान्त ईसाई मिशनरियों ने इस देश में प्रवेश किया। इनका मुख्य उद्देश्य भारतवासियों को अपने धर्म का अनुयायी बनाना था, अतः इन ईसाई मिशनरियों ने भारत में आकर यूरोपीय ढग की शिक्षा संस्थाओं का शिलान्यास करना आरम्भ कर दिया। इन मिशनरियों ने भारत के विभिन्न स्थानों में शिक्षा संस्थाओं की स्थापना की और उनमें पाश्चात्य ढंग से शिक्षा प्रदान करने का कार्य आरम्भ किया।

हमारे देश में माध्यमिक शिक्षा को आधुनिक युग की देन कहा जाता है। प्राचीन युग में अर्थात वैदिक युगीन व मध्ययुगीन शिक्षा व्यवस्था में प्राथमिक और उच्च दो ही शिक्षा के स्तर थे. बाद में 18वीं शताब्दी में यूरोपीय मिशनरियों द्वारा भारत में मध्यमिक शिक्षा का सूत्रपात कुछ भागों में माध्यमिक विद्यालयों की

स्थापना करके किया गया। इसके बाद अंग्रेजी शासकों तथा स्वदेशी विद्वानों और समाजसेवियों के प्रयास से देश में सभी क्षेत्रों में माध्यमिक विद्यालय खोले जाने लगे जो बाद में प्राथमिक और उच्च शिक्षा के बीच की महत्वपूर्ण कड़ी के रूप में उभरकर आए। ब्रिटिश काल के दौरान भारत की शिक्षा व्यवस्था को विभिन्न स्तरों प्राथमिक, माध्यमिक एवं उच्च शिक्षा में बांटा गया था। प्राइमरों विद्यालयों में प्राथमिक शिक्षा, मिडिल स्कूलों व हाईस्कूलों में माध्यमिक शिक्षा व विश्वविद्यालयों में उत्त्व शिक्षा का प्रवन्ध किया गया था।

ब्रिटिश काल में ईसाई धर्म की शिक्षा के साथ साथ इतिहास, भूगोल, गणित कृषि आदि विषयों की शिक्षा प्रदान की जाती थी। पाठ्यक्रम में प्रमुख स्थान युरोपियन साहित्य तथा विज्ञान को दिया जाता था। प्रारम्भिक कक्षाओं में शिक्षा का माध्यम मात्रभाषा या क्षेत्रीय भाषा था, जबकि माध्यमिक एवं उच्च कक्षाओं में शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी भाषा था।

ब्रिटिश काल में वैदिक काल, मध्यकाल एवं मुस्लिम काल की तरह ही शिक्षण विधियों का प्रचलन था। विद्यार्थियों को शिक्षा देने के लिये अध्यापक, भाषण विधि का प्रयोग करते थे। स्वाध्याय विधि से भी ज्ञान प्राप्त करने के लिये प्रोत्साहित किया जाता था, तथा विज्ञान सम्बन्धी विषयों के लिये प्रयोगात्मक कार्यों की व्यवस्था की गई थी।

ब्रिटिश कालीन शिक्षा में औपचारिक रूप से शिक्षा देने की व्यवस्था का आरम्भ हो चुका था, और अध्यापकों को प्रशिक्षण, नवीन शिक्षण विधियों के प्रयोग, शिक्षा मनोविज्ञान तथा विद्यालय प्रशासन का ज्ञान कराकर उन्हें शिक्षण कला में निपुण किया जाता था।

ब्रिटिश काल में सन् 1937 में जब प्रान्तों की शासन की डोर कांग्रेसी मंत्री मंडल के हाथ में आयी तब वर्धा में बुलाये गये अखिल भारतीय राष्ट्रीय शिक्षा सम्मेलन में गांधी जी ने अपने विचारों को एक योजना के रूप में प्रस्तुत किया। इस योजना में किसी उत्पादक शिल्पकला के माध्यम से मात्रभाषा में शिक्षा प्रदान करने की व्यवस्था थी, क्योंकि इस प्रकार शिक्षा देने में शरीर, मस्तिष्क तथा आत्मा का सर्वांगीण विकास करने की सम्भावना निहित थी। ब्रिटिश काल में जब भारतीय शिक्षा में पाश्चात्य रीति का अनुसरण करने पर सुधार होने लगा तो अंग्रेजी विद्यालयों में अधिक विद्यार्थी प्रवेश लेने लगे, क्योंकि अग्रेजी भाषा में शिक्षित भारतीयों को सरकारी पद पर नियुक्त करने की सरकारी घोषणा हो चुकी थी। इस दौरान स्त्री शिक्षा में भी सुधार होने लगा था। बाद में शिक्षा के क्षेत्र में आधुनिक विज्ञान के प्रवेश से शिक्षा का क्षेत्र विस्तृत हुआ और अनेकों प्रयोगों के बाद शिक्षा की गुणवत्ता में वृद्धि हुई तथा बालकों में वैज्ञानिक दृष्टिकोण व जनशिक्षा के प्रसार के नवीन साधनों का विकास होने लगा। यद्यपि ब्रिटिश शिक्षा प्रणाली ने देश के लिये अनेक लाभदायक कार्य किये लेकिन फिर भी यह शिक्षा देश की आवश्यकता को पूरा करने में असफल रही थी,

क्योंकि शिक्षा योजनायें बनाते समय राष्ट्रीय आवश्यकताओं व क्षमताओं को अनदेखा करके ब्रिटिश हितों को ध्यान में रखा जाता था। उपयुक्त विवरण से यह ज्ञात होता है कि स्वतंत्रता के पूर्व शिक्षा में सुधार तथा इसको जीवनोपयोगी बनाने के लिये अनेकों प्रयास किये गये परन्तु विदेशी सरकार की उदासीनता व निजी हितों के कारण इसमें कोई सकारात्मक परिवर्तन नही लाया जा सका।

1.01.04 स्वतंत्रता के उपरान्त शिक्षा व्यवस्था

सन् 1947 में जब भारत स्वतंत्र हुआ, तो अनेकों वर्षों की दासता के उपरान्त स्वाधीन भारत के सामने दो प्रमुख समस्यायें आईं, जिनमें पहली समस्या थी शिक्षा प्रणाली का पुर्नगठन और दूसरी समस्या थी, शिक्षा के अवसरों का विस्तार, अतः शिक्षा प्रणाली में पुर्नगठन हेतु शिक्षा में गुणात्मक सुधार करना, विज्ञान और तकनीकी शिक्षा का प्रसार करना, शिक्षा में भाषा के माध्यम को निश्चित करना जैसी अनेकों समस्याओं का निराकरण आवश्यक हो गया था, जिसके लिये संविधान के अंतर्गत अनेकों प्रावधान रखे गये तथा शिक्षा के विभिन्न स्तरों में विद्यमान समस्याओं हेतु विभिन्न आयोगों, समितियों आदि का निर्माण किया गया।

स्वतंत्रता के उपरान्त हमारी शिक्षा व्यवस्था को विभिन्न स्तरों प्राथमिक, माध्यमिक एवं उच्च शिक्षा में बांटा गया। प्राइमरों विद्यालयों में कक्षा एक से पांच

31 मार्च, 1935 को प्रान्त में हाईस्कूलों की संख्या 221 थी, जिनमें 206 बालकों के तथा 15 बालिकाओं के हाईस्कूल थे, जिनमें कुल पंजीकृत विद्यार्थियों की संख्या 90,137 थी। (1) प्रान्त में पहला सरकारी बालिका विद्यालय बरेली में जुलाई, 1933 ई० में स्थापित किया गया था। (2) वहीं 31 मार्च, 1935 तक प्रान्त में कुल 30 बालकों के इण्टरमीडिएट कालेज तथा बालिकाओं के 6 इण्टरमीडिएट कालेज थे। (3) वर्ष 1940 तक प्रान्त में केवल सेन्ट जान्सन कालेज अगरा में ही लड़कियों के हास्टल की सुविधा थी।

वर्ष 1945-46 तक प्रान्त में हाईस्कूल स्तर के विद्यालयों का विकास काफी धीमी गति से हुआ। 1945-46 में प्रान्त मे हाईस्कूल स्तर के मान्यता प्राप्त विद्यालयों की संख्या 250 थी जिसमें 1946-47 में अत्यधिक वृद्धि हुई और अब प्रान्त में माध्यमिक विद्यालयों की संख्या बढकर 301 हो गयी, जिनमें कुल पंजीकृत छात्रों की संख्या 1,74,192 थी। (4) स्वतन्त्रा के पूर्व प्रान्त में कुल 10 बालार्के के सरकारी इण्टरमीडिएट कालेज थे तथा 48 सरकारी हाईस्कूल स्तर के विद्यालय थे। (5)

वर्ष 1950 में उत्तर प्रदेश में सभी स्तर के मान्यता प्राप्त माध्यमिक विद्यालयों की संख्या 758 थी, जो 1955 में बढ़कर 1,414 हो गयी, (6) जिनमें 1,200 बालकों के तथा 214 बालिकाओं के माध्यमिक विद्यालय थे। प्रदेश में 1960 में मान्यता प्राप्त कुल माध्यमिक विद्यालयों की संख्या 1,701 थी, जिनमें 1,430 बालकों के तथा 271 बालिकाओं के मान्यता प्राप्त माध्यमिक विद्यालय थे। (7) यदि प्रदेश के ग्रामीण क्षेत्रों में स्थिति माध्यमिक विद्यालयों पर दृष्टि डाले तो पायेगें कि 1960 में प्रदेश में मात्र 4 माध्यमिक स्तर के माध्यमिक विद्यालय थे। (8) प्रदेश में 1964 में मान्यता प्राप्त माध्यमिक विद्यालयों की संख्या 3,030 थी, जिसमें 1,942 हाईस्कूल स्तर के तथा 1,088 इण्टरमीडिएट स्तर के विद्यालय थे तथा इन सभी माध्यमिक विद्यालयों में कुल 121,78,394 विद्यार्थी पंजीकृत थे। (9)

प्रदेश में 1970 में मान्यता प्राप्त माध्यमिक विद्यालयों की संख्या बढ़कर 4,573 हो गयी, जिनमें 2,967 हाईस्कूल स्तर के तथा 1,606 इण्टरमीडिएट स्तर के विद्यालय थे 1 ^ (10) 1975 में प्रदेश में मान्यता प्राप्त माध्यमिक विद्यालयों की संख्या बढ़कर 6,296 हो गयी, जिनमें 4,067 हाईस्कूल स्तर के तथा 2,229 इण्टरमीडिएट स्तर के विद्यालय थे 1 ^ (11)

यदि आलोच्य वर्षों में प्रदेश के माध्यमिक विद्यालयों के विकास पर सरसरी नजर डालें तो पायेंगे कि माध्यमिक विद्यालयों की संख्या में स्वतन्त्रता के पश्चात् लगभग एक दशक तक अत्यधिक तीव्र गति से वृद्धि हुई परन्तु उसके बाद सामान्य वृद्धि देखने को मिलती है।

यदि हम उत्तर प्रदेश के माध्यमिक विद्यालयों में अध्यापकों की प्रस्थिति देखें तो पायेंगे किब 1934-35 में संयुक्त प्रान्त में माध्यमिक स्तर के विद्यालयों में कुल अध्यापकों की संख्या 3,949 थी, जिनमें से 3,279 प्रशिक्षित तथा 670 गैर प्रशिक्षित अध्यापक थे 1 ^ (12) 1940 में प्रान्त में माध्यमिक स्तर के विद्यालयों में अध्यापकों की संख्या बढ़कर 6,288 हो गयी, जिसमें 5,270 पुरूष अध्यापक तथा 1,018 महिला अध्यापिकायें थी 1 ^ (13) 1945 में प्रान्त में माध्यमिक विद्यालयों में अध्यापकों की संख्या बढ़कर 6,863 हो गयी, जिसमें 3,697 प्रशिक्षित अध्यापक तथा 3,166 गैर प्रशिक्षित अध्यापक थे। इसी वर्ष में हाईस्कूल स्तर पर महिला अध्यापिकाओं की कुल संख्या 1,338 थी 1 ^ (14)

1950 में प्रदेश के मान्यता प्राप्त माध्यमिक विद्यालयों में कुल अध्यापकों की संख्या 13,841 थी, जिनमें 6,581 प्रशिक्षित तथा 7,260 गैर प्रशिक्षित अध्यापक थे 1 ^ (15) 1960 में प्रदेश में माध्यमिक विद्यालयों के अध्यापकों की संख्या बढ़कर 27,642 हो गयी। 1975 में प्रदेश के माध्यमिक विद्यालयों में कुल अध्यापकों की संख्या 94,719 थी 1 ^ (16)

अलोच्य वर्षों में 1936 में सर्वप्रथम माध्यमिक विद्यालयों के अध्यापकों के वेतनमान में संशोधन किया गया, फिर जुलाई, 1947 में, फिर 1955 में, उसके बाद 1959 में तथा अगस्त, 1965 में पुनः संशोधित कर बढ़ा दिये गये थे। (17)

अतः अलोच्य वर्षों में प्रदेश के माध्यमिक विद्यालयों के अध्यापकों की प्रस्थिति को देखने से स्पष्ट है कि स्वतन्त्रता के पूर्व माध्यमिक स्तर के विद्यालयों में प्रशिक्षित अध्यापकों का प्रतिशत काफी अच्छा था, जो स्वतन्त्रता के पश्चात् निरन्तर गिरता गया।

उत्तर प्रदेश में माध्यमिक शिक्षा के विकास एवं सुधार के लिये समय-समय पर प्रदेश सरकार द्वारा अनेक आयोगों का गठन किया गया, जिनकी समीक्षा अधोलिखित है-

संयुक्त प्रान्तीय सरकार ने अपने 8 अगस्त, 1934 के प्रस्ताव में (18) बताया कि प्रान्त में माध्यमिक शिक्षा की प्रणाली में सुधार करने की आवश्कता है। उसमें यह भी कहा गया कि अधिक उम्र के विद्यार्थियों का युनिवर्सिटी में शिक्षा पाना बेकार है और उनके लिये माध्यमिक शिक्षा के ऐसे पूर्ण पाठ्यक्रम की आवश्यकता है जिसमें युनिवर्सिटी की आवश्यकताओं की ओर ध्यान न दिया जाए। इस प्रस्ताव में भी यह भी बताया गया है कि भिन्न योग्यताओं के लिये भिन्न-भिन्न पाठ्यक्रम रखें जायें। इस बात पर जोर दिया गया कि पढ़े लिखों की मौजूदा बेकारी को दूर किया जाय, इसीलिये अक्टूबर, 1934 ई० में सरकार ने इस समस्या को हल करने के लिये एक समिति नियुक्त की, जिसके चेयरमैन राइट आनरेबल सर तेज बहादुर सप्रू थे।

फरवरी, 1936 में संयुक्त प्रान्त की सरकार ने मिस्टर आर०एस० वियर को सप्रू रिपोर्ट के प्रस्तावों और उससे सम्बन्धित दूसरी बातों की जाँच करने के लिये नियत किया। (19) इस समिति ने लड़कों और मवयुवकों को ऐसे पेशों की शिक्षा देना जिनकी माँग हो तथा समिति द्वारा सुझाया गया शिक्षा का विभाजन (प्रारम्भिक शिक्षा-5 वर्ष, माध्यमिक 4 वर्ष, उच्च माध्यमिक-3 वर्ष तथा यूनिवर्सिटी शिक्षा-3) सम्बन्धी सुझाव अत्याधिक सराहनीय थे। समिति द्वारा सुझाया गया शिक्षा का विभाजन वर्तमान समय में भी लागू है।

संयुक्त प्रान्त की सरकार ने 28 मार्च, 1938 को डा0 आचार्य नरेन्द्र देव की अध्यक्षता में एक समिति का गठन किया गया था। (20) समिति ने अपनी विस्तृत रिपोर्ट 1939 में सरकार को सौंप ट्री थी। समिति के सुझाव कि लड़कों और लड़कियों के पाठ्यक्रम में कोई अन्तर नहीं रखा जाना चाहिये व समिति द्वारा सुझाये

गये पाठ्यक्रम की रूपरेखा समयानुकूल थी। समिति द्वारा एक प्राविधिक शिक्षा एवं व्यवसायिक मार्गदर्शन ब्यूरों स्थापित किये जाने का सुझाव अत्यधिक उपयोगी था, क्योंकि सभी विद्यार्थियों में कोई न कोई छुपी प्रतिमा होती है, विद्यार्थियों की रोजगार परक रूचियों को सामने लाकर ब्यूरों छात्रों को निर्देशिन प्रदान करेगा। समिति का विचार था कि लड़कों और लड़कियों के पाठ्यक्रम में कोई भेद नहीं होना चाहिये, यह भारतीय संविधान की मूल भावना के अनुरूप था।

केन्द्रीय शिक्षा सलाहाकार बोर्ड ने अपनी जनवरी, 1948 में आयोजित बैठक में देश की माध्यमिक शिक्षा के प्रश्न पर विचार किया तथा बोर्ड के सुझावों पर विचार करते हुए केन्द्रीय सरकार ने डा० ताराचन्द की अध्यक्षता में एक शिक्षा समिति का गठन किया। (21) बोर्ड के अध्यक्ष के नाम पर ही इस समिति को 'ताराचन्द समिति' के नाम से जाना गया। समिति के कुछ प्रमुख सुझावों को उत्तर प्रदेश सरकार ने भी स्वीकार किया। प्रदेश सरकार ने 1 जुलाई, 1948 से प्रदेश में शिक्षा के पुनर्सगठन की योजना लागू की। (22) नई योजना के 4 वर्षों (1948-52) तक क्रियान्वयन के पश्चात् विभिन्न परिच्छेदों में यह अनुभव किया गया कि माध्यमिक शिक्षा की यह योजना पुनर्निरीक्षित की जाय और यह मालूम किया जाय कि उक्त योजना अपने परिणामों से कितनी दूर है और क्या कोई परिवर्तन आवश्यक हो गये हैं। अतः प्रदेश सरकार ने मार्च, 1952 में आचार्य नरेन्द्र देव की अध्यक्षता में एक माध्यमिक शिक्षा पुनर्सगठन समिति का गठन किया। (23) स्वतन्त्रता के पश्चात् उत्तर प्रदेश के माध्यमिक शिक्षा के इतिहास में द्वितीय आचार्य नरेन्द्र देव समिति के प्रतिवेदनों का अत्यधिक महत्वपूर्ण स्थान है। इसकी प्रमुख विशेषतायें अधोलिखित हैं-

समिति ने पाठ्यक्र को अधिक व्यवहारिक एवं उपयोगी बनाने का सुझाव दिया है। विद्यार्थियों के मार्गदर्शन के सम्बन्ध में दिये गये समिति के सुझाव अत्यन्त उपयोगी हैं, परीक्षाओं में वस्तुनिष्ठ परीक्षणों का उपयोग भी आवश्यक है। समिति के नैतिक, धार्मिक एवं सामाजिक शिक्षा का सुझाव, कार्य-दिवस, तकनीकी शिक्षा, पाठ्यपुस्तकों सम्बन्धी सुझाव भी अत्यन्त उपयोगी है। समिति के अनुसार शिक्षकों की सेवा दशा में सुधार एवं उनकी सेवाओं को सुरक्षा देना भी आवश्यक है।

आचार्य नरेन्द्र देव समिति की रिपोर्ट में अनेक दोष व कमियों भी है जो अधोलिखित हैं-

पाठ्यक्रम में कोई विशेष परिवर्तन नहीं किया गया। पूर्व वर्गीकरण स्वीकार कर लिया गया। 'ग' एवं 'घ' वर्ग (रचनात्मक एवं कलात्मक) लोकप्रिय बनाने के सुझाव नहीं दिये गये। 2- प्रबन्ध समितियों के सम्बन्ध मे 'रघुकुल तिलक समिति के सुझावों को दुहरा दिया गया।

शिक्षकों के वेतन में सुधार के लिए कोई सिफारिश नहीं की गयी।

सरकारी एवं गैर सरकारी शिक्षकों के वेतन में भिन्नता के विरूद्ध कुछ नहीं कहा गया, जबकि यह हमारे संविधान के विरूद्ध है।

रचनात्मक एवं कलात्मक शिक्षा को उपयोगिता एवं महत्त्व को स्वीकार करते हुए भी इनके शिक्षकों को समान दर्जा दिलाने का प्रयत्न नहीं किया गया। आर्ट एण्ड क्राफ्ट संगीत एवं गृह विज्ञान शिक्षकों को अन्य शिक्षकों से कम वेतन दिया जाता है।

समिति ने सरकारी शिक्षा विभाग एवं जिला निरीक्षक के दफ्तर में फैली अनियमितताओं एवं भ्रष्टाचार की चर्चा नहीं की है।

पाठ्य-पुस्तकों सम्बन्धी सुझाव से स्थिति में विशेष सुधार नहीं हुआ। प्रधानाध्यापकों ने अपने अधिकारों का दुरूपयोग किया।

केन्द्र सस्कार ने भी 23 सितम्बर, 1952 को डा० ए० लक्ष्मण स्वामी मुदालियर की अध्यक्षता में 'माध्यमिक शिक्षा आयोग' का गठन किया था। आयोग ने अपनी विस्तृत रिपोर्ट भारत सरकार को 29 अगस्त, 1953 को प्रस्तुत की। इससे पहले अनेक आयोगों और समितियों की नियुक्ति हुई पर उनमें से किसी के सुझाव और सिफारिशें इतनी महत्वपूर्ण नहीं थी, जितनी की माध्यमिक शिक्षा आयोग की। इसने माध्यमिक शिक्षा के सम्पूर्ण क्षेत्र का अध्ययन कियाा और अनेक सुधारों तथा परिवर्तनों के बारे में सुझाव दिए। यदि देश के नवयुवकों को दी जाने वाली शिक्षा को व्यक्तियों एवं समाज की आवश्यकताओं और राष्ट्र की बढ़ती हुई माँगो को पूरा करना है, तो इन सुधारों और परिवर्तनों का किया जाना आवश्यक है। आयोग के कुछ महत्वपूर्ण सुझाव है-व्यक्तिगत रूचियों ओर क्षमताओं को संतुष्ट करने के लिए पाठ्यक्रम का विभिन्नीकरण, व्यक्तिगत योग्यताओं के अनुसार विषयों का चयन करने के लिए बहुउद्देशीय विद्यालयों की स्थापना, देश के सबसे महत्वपूर्ण उद्योग की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कृषि-शिक्षा की समुचित व्यवस्था, अपने भावी व्यवसायों को चुनने में छात्रों को सहायता देने के लिए मार्ग-प्रदर्शन और समुपदेशन और परीक्षा के दोषों का उन्मूलन करने के लिए शैक्षिक योग्यता का मूल्यांकन करने की नवीन पद्धति। आयोग का एक अति महत्वपूर्ण सुझाव है-शिक्षकों की स्थिति में सुधार क्योंकि अध्यापक ही शिक्षा के केन्द्र बिन्दु और भावी नागरिकों के रूप में नवयुवकों के निर्माता

है। यदि शिक्षकों की वर्तमान निराशा और असंतोष को दूर किया जाना है, और शिक्षा को राष्ट्र-निर्माण की वास्तविक आधार बनाया जाना है, तो उनकी स्थिति और कार्य करने की दशाओं में सुधार करना परम आवश्यक है।

इतना सब कुछ होते हुए भी आयोग के प्रतिवेदन को दोषमुक्त नहीं कहा जा सकता है। ये दोष इस प्रकार है- पहला, आयोग ने व्यक्तिगत विद्यालयों की प्रबन्धकारिणी समितियों के सदस्यों की शैक्षिक योग्यताओं के बारे में कुछ नहीं कहा। यदि शिक्षित अध्यापक अशिक्षित या अल्प शिक्षित सदस्यों की कृपा पर निर्भर रहेंगे, तो उनकी स्थिति में सुधार नहीं होगा, भले ही शिक्षा-विभाग उनकी कार्य करने की दशाओं में सुधार कर दें। दूसरा, आयोग ने बालिकाओं की शिक्षा के विस्तार और उनके पाठ्यक्रम के बारे में कोई महत्वपूर्ण सुझाव नहीं दिया। यह वास्तव में बड़े दुःख का विषय है। यह बात किसी से छिपी नहीं है कि स्त्री-शिक्षा अभी बहुत पिछड़ी हुई दशा में है और इसलिए, इसका प्रत्येक उचित विधि से पोषण किया जाना है। इसके अतिरिक्त, बालिकाओं को बालकों से भिन्न पाठ्यक्रम की आवश्यकता है। तीसरा, इण्टरमीडिएट कक्षाओं को तोड़ देने का सुझाव उपयुक्त नहीं प्रतीत होता है। क्या जिस स्तर पर विश्वविद्यालयों और डिग्री कालेजों में इस कक्षा के छात्रों को शिक्षा दी जा रही है, उस स्तर पर समिति साधनों वाले उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों में शिक्षा, विशेष रूप से विज्ञान के विषयों की शिक्षा, दी जा सकेगी? एक ऐसा प्रश्न है, जिस पर गम्भीर विचार की आवश्यकता है। चौथा, माध्यमिक स्तर पर आन्तरिक विषयों (Core 'Subjects) और तीन विषयों के अतिरिक्त प्रत्येक छात्र को तीन भाषाओं का अध्ययन करना पड़ेगा। इस प्रकार यह कहना अनुचित न होगा कि छात्रों के लिए पाठ्यक्रम बहुत भारी ही जायगा।

उपर्युक्त गुण-दोषों का विवेचन करने के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि आयोग के प्रतिवेदन में दोषो की अपेक्षा गुण कहीं अधिक है। आयोग के सुझावों को कार्यान्वित करने से आज के माध्यमिक विद्यालय में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो जायगा। वह बड़े समुदाय के अन्दर एक छोटा समुदाय हो जायगा, छात्रों के चरित्र का उत्थान करने में सहायता देगा और उनमें - आत्म-अनुशासन तथा सामूहिक जीवन का विकास करेगा। अतः यह परम आवश्यक है कि माध्यमिक शिक्षा के पुर्नसंगठन की योजना को सफल बनाने के लिए जनता और सरकार कंधे से कंधा मिलाकर कार्य करने में संलग्न हो जायें। भारत सरकार ने 14 जुलाई, 1964 के अपने प्रस्ताव में कहा कि शिक्षा राष्ट्रीय समृद्धि एवं कल्याण का आधार है। देश का जितना हित शिक्षा से हो सकता है उतना किसी अन्य उपकरण से नहीं शिक्षा में सुधार के लिये शिक्षा के सम्पूर्ण क्षेत्र की जाँच आवश्यक है, क्योंकि शिक्षा का एक क्षेत्र दूसरे को प्रभावित करता है। इस उद्देश्य से भारत सरकार ने 14 जुलाई, 1964 को एक शिक्षा आयोग प्रो० डी० एस० कोठारी की अध्यक्षता में गठित किया। अध्यक्ष के नाम पर ही इस आयोग्र की 'कोठारी आयोग' भी कहा जाता है। कोठारी आयोग का न केवल भारतीय वरन् विश्व शिक्षा के क्षेत्र में अनोखा एवं महत्वपूर्ण स्थान है। कोठारी आयोग की महत्वपूर्ण विशेषतायें अधोलिखित है-

कोठारी आयोग ने संख्यात्मक विकास की तुलना में गुणात्मक विकास तथा भावना वंश शिक्षा का प्रसार करने के स्थान पर मानवीय शक्ति की माँग के आधार पर प्रसार कार्यक्रम लागू करने पर विशेष बल दिया है। वर्तमान समय में देश के विकास की दृष्टि से शिक्षा एवं उत्पादन का सम्बन्ध स्थापित किया है।

समानता के सिद्धान्त पर आधारित समाज के निर्माण के लिये 'पड़ौस' एवं 'सामान्य स्कूलों की स्थापना का सुझाव निश्चित ही क्रान्तिकारी है। इन सभी सुझावों के लिये आयोग प्रशंसा का पात्र है।

आयोग ने भारतीय शिक्षा की समस्याओं पर विचार करने के लिये सार संग्राही दृष्टि अपनाई तथा शिक्षा की एक विस्तृत एवं संगठित योजना प्रस्तुत की है। इससे पूर्व अन्य आयोगों ने मुख्य रूप से एक ही शिक्षा स्तर पर विचार किया था एवं अन्य शिक्षा अन्य शिक्षा स्तरों पर विचार उस स्तर विशेष की दृष्टि से किये गये थें। परिणामतः इन स्तरों पर उनके सुझाव संकुचित एवं अभिनतिपूर्ण थे। आयोग ने समस्त शिक्षा स्तरों को शिक्षा योजना का अंग मानकर शिक्षा को सामाजिक परिवर्तन का साधन बनाने के सम्बन्ध में सुझाव दिये और देश के आर्थिक विकास तथा सामाजिक एवं राष्ट्रीय एकता के साथ शिक्षा का सम्बन्ध स्पष्ट किया। प्रथम बार यह स्वीकार किया गया कि राष्ट्रीय जीवन की दृष्टि से सभी स्तरों की शिक्षा एक इकाई है।

शिक्षा को राष्ट्रीय रूप प्रदान करने एवं पुनर्निर्माण करने के लिये आयोग ने निम्नलिखित निर्देशक सिद्धान्त बताये हैं- (1) शिक्षा उत्पादन केन्द्रित होनी चाहिये। अतः विज्ञान की शिक्षा, है। यदि शिक्षकों की बर्तमान निराशा और असंतोष को दूर किया जाना है, और शिक्षा का राष्ट्र-निर्माण का वास्तविक आधार बनाया जाना है, तो उनकी स्थिति और कार्य करने की दशाओं में सुधार करना परम आवश्यक है।

इतना सब कुछ होते हुए भी आयोग के प्रतिवेदन को दोषमुक्त नहीं कहा जा सकता है। ये दोष इस प्रकार है- पहला, आयोग ने व्यक्तिगत विद्यालयों की प्रबन्धकारिणी समितियाँ के सदस्यों की शैक्षिक योग्यताओं के बारे में कुछ नहीं कहा। यदि शिक्षित अध्यापक अशिक्षित या अल्प शिक्षित सदस्यों की कृपा पर निर्भर रहेंगे, तो उनकी स्थिति में सुधार नहीं होगा, भले ही शिक्षा-विभाग उनकी कार्य करने की दशाओं में सुधार कर दें। दूसरा, आयोग ने बालिकाओं की शिक्षा के विस्तार और उनके पाठ्यक्रम के बारे में कोई महत्वपूर्ण सुझाव नहीं दिया। यह वास्तव में बड़े दुःख का विषय है। यह बात किसी से छिपी नहीं है कि स्त्री-शिक्षा अभी बहुत पिछडी हुई दशा में है और इसलिए, इसका प्रत्येक उचित विधि से पोषण किया जाना है। इसके अतिरिक्त, बालिकाओं को बालकों से भिन्न पाठ्यक्रम की आवश्यकता है। तीसरा, इण्टरमीडिएट कक्षाओं को तोड़ देने का सुझाव उपयुक्त नहीं प्रतीत होता है। क्या जिस स्तर पर विश्वविद्यालयों और डिग्री कालेजों में

इस कक्षा के छात्रों को शिक्षा दी जा रही है, उस स्तर पर समिति साधनों वाले उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों में शिक्षा, विशेष रूप से विज्ञान के विषयों की शिक्षा, दी जा सकेगी? एक ऐसा प्रश्न है, जिस पर गम्भीर विचार की आवश्यकता है। चौथा, माध्यमिक स्तर पर आन्तरिक विषयों (Core 'Subjects) और तीन विषयों के अतिरिक्त प्रत्येक छात्र को तीन भाषाओं का अध्ययन करना पड़ेगा। इस प्रकार यह कहना अनुचित न होगा कि छात्रों के लिए पाठ्यक्रम बहुत भारी हो जायगा।

> उपर्युक्त गुण-दोषों का विवेचन करने के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि आयोग के प्रतिवेदन में दोषो की अपेक्षा गुण कहीं अधिक है। आयोग के सुझावों को कार्यान्वित करने से बीज के माध्यमिक विद्यालय में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो जायगा। वह बड़े समुदाय के अन्दर एक छोटा समुदाय हो जायगा, छात्रों के चरित्र का उत्थान करने में सहायता देगा और उनमे आत्म-अनुशासन तथा सामूहिक जीवन का विकास करेगा। अतः यह परम आवश्यक है कि माध्यमिक शिक्षा के पुर्नसंगठन की योजना को सफल बनाने के लिए जनता और सरकार कमब से कंधा मिलाकर कार्य करने में संलग्न हो जायें। Page 273